आचार्य उमास्वामी विरचित

तत्त्वार्थसूत्र

(सार्थ)

पावन प्रेरणा

संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के शिष्य

अनेक विधान रचयिता बुंदेली संत

मुनिश्री सुव्रतसागरजी महाराज

प्रस्तोता

बा॰ ब्र॰ संजय भैयाजी, मुरैना

कृति	:	तत्त्वार्थसूत्र
रचयिता	:	आचार्य उमास्वामी महाराज
आशीर्वाद	:	संयम स्वर्ण महोत्सव मण्डित आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज
कृतिकार	:	अनेक विधान रचयिता बुंदेली संत मुनिश्री सुव्रतसागरजी महाराज
प्रसंग	:	मुनिश्री सुव्रतसागरजी महाराज का स्वर्णिम अवतरण वर्ष एवं रजत दीक्षा वर्ष 2023
संयोजक	:	बा० ब्र० संजय भैयाजी, मुरैना
संस्करण:		द्वितीय, 1100 प्रतियाँ
सहयोग राशि	:	25/- (पुनः प्रकाशन हेतु)
प्रकाशक	:	विद्या सुव्रत संघ
प्राप्ति स्थान	:	1. बा० ब्र० संजय भैयाजी, मुरैना मोबाइल-9425128817 2. अमर ग्रंथालय इंदौर, 9425478846
मुद्रक	:	ईस्टर्न प्रेस, नई दिल्ली

अथ प्रथमोऽध्यायः

जीव तत्त्व का वर्णन

मंगलाचरण

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये॥

अर्थ–मैं मोक्षमार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतों के भेदन करने वाले और समस्त तत्त्वों को जानने वाले आप्त को उन गुणों की प्राप्ति के लिये वन्दना करता हूँ।

मोक्ष की प्राप्ति का उपाय

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः॥ १॥

अर्थ- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर (मोक्षमार्गः) मोक्ष के मार्ग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के उपाय हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्॥ २॥

अर्थ- अर्थ = पदार्थ और तत्त्व = भाव या स्वरूप अर्थात् पदार्थों के स्वरूप का पक्का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के हेतु वा भेद

तन्-निसर्गा-दधिगमाद् वा॥ ३॥

अर्थ- वह सम्यग्दर्शन स्वभाव से अथवा पर के उपदेश आदि से उत्पन्न होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति की अपेक्षा दो भेद हैं-१. निसर्गज, २. अधिगमज।

तत्त्वों के नाम वा भेद

जीवा-जीवास्त्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्-तत्त्वम्॥ ४॥

अर्थ-(जीवाजीवास्त्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाः) जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात (तत्त्वम्) तत्त्व हैं।

तत्त्वों और रत्नत्रय के व्यवहार वा ज्ञान के कारण

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्-तन्न्यासः॥ ५॥

अर्थ-नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से उन सात तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शन आदि का लोकव्यवहार होता है। नाम आदि चार ही निक्षेप कहलाते हैं।

तत्त्वों और रत्नत्रय के जानने के उपाय

प्रमाण-नयै-रधिगमः॥ ६॥

अर्थ-सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय और जीव आदि पदार्थों का ज्ञान प्रमाण और नयों से होता है।

तत्त्वों और रत्नत्रय को जानने के अन्य उपाय

निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः॥ ७॥

अर्थ-निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इनसे भी जीवादिक पदार्थ तथा सम्यग्दर्शन आदि का ज्ञान होता है।

तत्त्वों और रत्नत्रय को जानने के उपायान्तर

सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्प-बहुत्वैश्च॥ ८॥

अर्थ- और सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ उपायों से भी पदार्थ का ज्ञान होता है।

सम्यग्दर्शन के भेद वा नाम

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम्॥ ९॥

अर्थ-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच प्रकार का सम्यग्ज्ञान है।

प्रमाण के भेद

तत्प्रमाणे॥ १०॥

अर्थ- ऊपर कहा हुआ पाँच प्रकार का ज्ञान ही दो प्रमाण रूप है।

परोक्ष प्रमाण के भेद

आद्ये परोक्षम्॥ ११॥

अर्थ-आदि के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद

प्रत्यक्ष-मन्यत्॥ १२॥

अर्थ- शेष सब अर्थात् अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

मतिज्ञान के पर्यायवाची

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता-भिनिबोध इत्य-नर्थान्तरम्॥ १३॥

अर्थ-मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध ये अन्य पदार्थ नहीं हैं अर्थात् मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं।

मतिज्ञान की उत्पत्ति के कारण

तदिन्द्रिया-निन्द्रिय-निमित्तम्॥ १४॥

अर्थ- वह मतिज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है।

मतिज्ञान के भेद

अवग्रहे-हावाय-धारणाः॥ १५॥

अर्थ-मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं।

अवग्रह आदि के विषयभूत पदार्थ

बहु-बहुविध-क्षिप्रानिःसृता-नुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम्॥ १६॥

अर्थ-अपने उल्टे भेदों सहित बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव और इनसे उल्टे एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त तथा अध्रुव इन बारह प्रकार के पदार्थों का अवग्रह ईहादि रूप ज्ञान होता है।

बहुविध आदिक किसके विशेषण हैं

अर्थस्य॥ १७॥

अर्थ–ऊपर कहे हुए बहु आदि बारह भेद पदार्थ के हैं। अर्थात् बहु आदि विशेषण विशिष्ट पदार्थ के ही अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं अथवा यहाँ तक अर्थावग्रह का वर्णन हुआ।

अवग्रहज्ञान में विशेषता

व्यञ्जनस्या-वग्रहः॥ १८॥

अर्थ– अप्रकट रूप शब्दादि पदार्थों का सिर्फ अवग्रह ज्ञान होता है। ईहादिक तीन ज्ञान नहीं होते।

व्यञ्जनावग्रह की विशेषता

न चक्षु-रनिन्द्रियाभ्याम्॥ १९॥

अर्थ– नेत्र और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है, क्योंकि नेत्र स्पष्ट पदार्थ को तथा मन अनुश्रुत पदार्थ को ही विषय करता है।

श्रुतज्ञान का स्वरूप वा भेद

श्रुतं-मतिपूर्वं द्वयनेक-द्वादश-भेदम्॥ २०॥

अर्थ–श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञान उसका पूर्व कारण है और वह श्रुतज्ञान दो, अनेक तथा बारह भेद वाला है।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान के भेद वा स्वामी

भव-प्रत्ययोऽवधिर्देव-नारकाणाम्॥ २१॥

अर्थ-भवप्रत्यय नाम का अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के भेद वा स्वामी

क्षयोपशम-निमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्॥ २२॥

अर्थ-क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित, इस प्रकार छह भेदवाला है और वह मनुष्य तथा तिर्यञ्चों के होता है।

मनःपर्ययज्ञान के भेद

ऋजु-विपुलमती मनःपर्ययः॥ २३॥

अर्थ-मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है।

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर

विशुद्ध्य-प्रतिपाताभ्यां तद्-विशेषः॥ २४॥

अर्थ- परिणामों की शुद्धता होना और अप्रतिपात-केवलज्ञान होने के पहले नहीं छूटना, इन दो बातों से ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता आती है।

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में अन्तर

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मन:पर्याययो:॥ २५॥

अर्थ - अवधि और मन:पर्ययज्ञान में विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामि और विषय की अपेक्षा विशेषता होती है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय

मति-श्रुतयो-र्निबन्धो द्रव्येष-वसर्व-पर्यायेषु॥ २६॥

अर्थ- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय सम्बन्ध सब पर्यायों से रहित जीव पुद्गल आदि सब द्रव्यों में है।

अवधिज्ञान का विषय

रूपिष -ववधे:॥ २७॥

अर्थ- अवधिज्ञान का विषय-सम्बन्ध रूपी द्रव्यों में है अर्थात् अवधिज्ञान मात्र रूपी पदार्थों को जानता है।

मन:पर्ययज्ञान का विषय

तदनन्त-भागे मन:पर्ययस्य॥ २८॥

अर्थ- सर्वावधि ज्ञान के विषयभूत रूपी द्रव्य के अनंतवें भाग में मन:पर्यय ज्ञान का विषय सम्बन्ध है।

केवलज्ञान का विषय

सर्व-द्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य॥ २९॥

अर्थ- केवलज्ञान का विषय-सम्बन्ध सब द्रव्य और उनकी अनंत पर्यायों में है। अर्थात् केवलज्ञान एक साथ समस्त द्रव्यों को उनकी अनंत पर्यायों के साथ स्पष्ट जानता है।

एक साथ एक आत्मा में रहने वाले ज्ञानों की संख्या

एकादीनि भाज्यानि युगपदे-कस्मिन्ना-चतुर्भ्यः॥ ३०॥

अर्थ- एक जीव में एक साथ एक को आदि लेकर चार ज्ञान तक विभक्त करने के योग्य हैं अर्थात् हो सकते हैं।

मति, श्रुत और अवधिज्ञान में मिथ्यापन

मति-श्रुतावधयो विपर्ययश्च॥ ३१॥

अर्थ- मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपर्यय भी होते हैं।

ज्ञानों के मिथ्या होने का हेतु

स-दसतो-रवि-शेषाद्-यदृच्छोप-लब्धे-रुन्मत्तवत्॥ ३२॥

अर्थ-अपनी इच्छानुसार जानने के कारण सत् और असत् पदार्थों में विशेष न होने से पागल पुरुष के ज्ञान की तरह मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्याज्ञान ही होता है।

नयों के भेद

नैगम-संग्रह-व्यवहा-रर्जुसूत्र-शब्द-समभि-रूढैवं-भूता-नयाः॥३३॥

अर्थ-नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय हैं।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे प्रथमोऽध्यायः॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

जीव तत्त्व का वर्णन

जीव के असाधारण भाव

औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-
मौदयिक-पारिणामिकौ च॥ १॥

अर्थ- जीव के औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक ये पाँचों ही भाव निज के भाव हैं।

भावों के भेद

द्वि-नवाष्टा-दशैक-विंशति-त्रि-भेदा यथा-क्रमम्॥ २॥

अर्थ-ऊपर कहे हुए पाँचों भाव क्रम से दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद वाले हैं।

औपशमिक भाव के दो भेद

सम्यक्त्व-चारित्रे॥ ३॥

अर्थ-औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो औपशमिक भाव के भेद हैं।

क्षायिक भाव के नौ भेद

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च॥ ४॥

अर्थ- क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिक-लाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य तथा चकार से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र ये ९ क्षायिकभाव के भेद हैं। इन नौं भावों को नौ लब्धियाँ भी कहते हैं।

क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद

ज्ञानाज्ञान-दर्शन-लब्धयश्-चतुस्त्रि-त्रि पञ्चभेदाः सम्यक्त्व-चारित्र-संयमा-संयमाश्च॥ ५॥

अर्थ- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन अज्ञान, चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन ये तीन दर्शन, क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम ये अठारह भाव क्षायोपशमिक भाव के हैं।

औदयिक भाव के इक्कीस भेद

गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शना-ज्ञाना-संयता सिद्ध-लेश्याश्-चतुश्-चतुस्त्र्ये-कै-कै-कैक-षड्भेदाः॥ ६॥

अर्थ- नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गति, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद

ये तीन लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्म और शुक्ल ये छः लेश्याएँ इस तरह सब मिलाकर औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं।

पारिणामिक भाव के भेद

जीव-भव्या-भव्यत्वानि च॥ ७॥

अर्थ-जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव हैं।

जीव का लक्षण

उपयोगो लक्षणम्॥ ८॥

अर्थ-जीव का लक्षण उपयोग है।

उपयोग के भेद

स द्वि-विधोऽष्ट-चतुर्भेदः॥ ९॥

अर्थ- वह उपयोग मूल में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का है। फिर क्रम से आठ और चार भेद से सहित है।

जीव के भेद

संसारिणो मुक्ताश्च॥ १०॥

अर्थ-वे जीव संसारी और मुक्त इस प्रकार दो भेद वाले

हैं।

संसारी जीव के भेद

समनस्का-मनस्काः॥ ११॥

अर्थ-मन वाले और मन रहित ऐसे दो प्रकार के संसारी जीव हैं।

संसारी जीवों के अन्य प्रकार से भेद

संसारिणस्-त्रस-स्थावराः॥ १२॥

अर्थ- संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं।

स्थावरों के भेद

पृथिव्यप्तेजो-वायु-वनस्पतयः स्थावराः॥ १३॥

अर्थ-पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच प्रकार के स्थावर हैं। इनके सिर्फ स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

त्रसजीव के भेद

द्वीन्द्रिया-दयस्त्रसाः॥ १४॥

अर्थ- दो इन्द्रिय आदि वाले त्रस हैं।

इन्द्रियों की संख्या वा भेद

पञ्चेन्द्रियाणि॥ १५॥

अर्थ-इन्द्रियाँ पाँच हैं।

इन्द्रियों के मूल भेद

द्विविधानि॥ १६॥

अर्थ-वे प्रत्येक द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय के भेद से दो-दो प्रकार की हैं।

द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप

निर्वृत्युप-करणे द्रव्येन्द्रियम्॥ १७॥

अर्थ-निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

भावेन्द्रिय का स्वरूप

लब्ध्युप-योगौ भावेन्द्रियम्॥ १८॥

अर्थ-लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं।

इन्द्रियों के नाम

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणि॥ १९॥

अर्थ- त्वचा, जीभ, नाक, आँख और कान ये पाँच इन्द्रियाँ हैं।

इन्द्रियों के विषय

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्-तदर्थाः॥ २०॥

अर्थ-स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पाँच क्रम से ऊपर कही हुई पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। अर्थात् उक्त इन्द्रियाँ इन विषयों को जानती हैं।

मन का विषय

श्रुत-मनिन्द्रियस्य॥ २१॥

अर्थ- मन का विषय श्रुतज्ञानगोचर पदार्थ है।

स्पर्शन इन्द्रिय का स्वामी

वनस्पत्यन्ताना-मेकम्॥ २२॥

अर्थ- वनस्पतिकाय है अन्त में जिनके, ऐसे जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

शेष इन्द्रियों के स्वामी

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीना-मेकैक-वृद्धानि॥ २३॥

अर्थ–लट आदि, चींटी आदि, भौंरा आदि तथा मनुष्य आदि के क्रम से एक–एक इन्द्रिय बढ़ती हुई हैं।

समनस्क का लक्षण

संज्ञिनः समनस्काः॥ २४॥

अर्थ –मन सहित जीव संज्ञी कहलाते हैं।

विग्रह–गतौ कर्म–योगः ॥ २५॥

अर्थ–विग्रहगति में कार्मण काययोग होता है। उसी की सहायता से जीव एक गति से दूसरी गति में गमन करता है।

जीव या पुद्गल के गमन का क्रम

अनुश्रेणि गतिः॥ २६॥

अर्थ– विग्रहगति में जीव का गमन श्रेणी के अनुसार ही होता है।

मुक्तजीव की गति

अविग्रहा जीवस्य॥ २७॥

अर्थ–मुक्त जीव की गति वक्रता रहित–सीधी होती है।

संसारी जीवों की गति और समय

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्–चतुर्भ्यः॥ २८॥

अर्थ- संसारी जीव की गति चार समय से पहले पहले विग्रहवती और अविग्रहवती दोनों प्रकार की होती है।

अविग्रह गति का समय

एक-समया-विग्रहा॥ २९॥

अर्थ-मोड़ा रहित गति एक समय मात्र होती हैं।

विग्रहगति में आहारक अनाहारक की व्यवस्था

एकं द्वौ त्रीन्वाना-हारकः॥ ३०॥

अर्थ-विग्रहगति में जीव एक, दो अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है।

जन्म के भेद

सम्मूर्च्छन-गर्भोप-पादा जन्म॥ ३१॥

अर्थ-जन्म सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद के भेद से तीन प्रकार का होता है।

योनियों के भेद

सचित्त-शीत-संवृता सेतरा मिश्राश्-चैकशस्-तद्योनयः॥ ३२॥

अर्थ-सचित्त, शीत, संवृत तीन इनसे उल्टी तीन अचित्त,

उष्ण, विवृत और एक-एक कर क्रम से मिली हुई तीन सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृत-विवृत ये नौ सम्मूर्च्छन आदि जन्मों की योनियाँ हैं।

गर्भजन्म के स्वामी

जरायु-जाण्डज-पोतानां गर्भः॥ ३३॥

अर्थ-जरायुज, अण्डज और पोत इन तीन प्रकार के जीवों के गर्भजन्म ही होता है।

उपपाद जन्म के स्वामी

देव-नारकाणा-मुपपादः॥ ३४॥

अर्थ-देव और नारकियों के उपपाद जन्म होता है।

सम्मूर्च्छन जन्म के स्वामी

शेषाणां सम्मूर्च्छनम्॥ ३५॥

अर्थ- गर्भ और उपपाद जन्म वालों से बाकी बचे हुए जीवों के सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

शरीरों के नाम व भेद

औदारिक-वैक्रियि-काहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि॥ ३६॥

अर्थ–औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर है।

शरीरों की सूक्ष्मता

परं परं सूक्ष्मम्॥ ३७॥

अर्थ–पूर्व से आगे आगे के शरीर सूक्ष्म सूक्ष्म हैं।

औदारिककादि तीन शरीरों के प्रदेश

प्रदेशतोऽसंख्येय-गुणं प्राक् तैजसात्॥ ३८॥

अर्थ – प्रदेशों की अपेक्षा तैजस शरीर से पहले–पहले के शरीर असंख्यातगुणे हैं।

तैजस और कार्मण शरीर के प्रदेश

अनन्त-गुणे परे॥ ३९॥

अर्थ – बाकी के दो शरीर अनन्तगुणे प्रदेश वाले हैं।

तैजस और कार्मण शरीर की विशेषता

अप्रतीघाते॥ ४०॥

अर्थ–तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर अप्रतिघात–बाधारहित हैं।

तैजस और कार्मण की विशेषता

अनादि-सम्बन्धे च॥ ४१॥

अर्थ-ये दोनों शरीर आत्मा के साथ अनादिकाल से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

तैजस और कार्मण शरीर की विशेषता

सर्वस्य॥ ४२॥

अर्थ-ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवों के होते हैं।

एक जीव के एक साथ हो सकने वाले शरीर

तदादीनि भाज्यानि युगपदे-कस्मिन्ना-चतुर्भ्यः॥ ४३॥

अर्थ-उन तैजस और कार्मण शरीर को आदि लेकर एक साथ एक जीव के चार शरीर तक विभक्त करना चाहिए।

कार्मण शरीर की विशेषता

निरुप-भोग-मन्त्यम्॥ ४४॥

अर्थ-अन्त का कार्मण शरीर उपभोग रहित होता हैं।

औदारिक शरीर का लक्षण

गर्भ-सम्मूर्च्छनज-माद्यम्॥ ४५॥

अर्थ- गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न हुआ शरीर औदारिक शरीर कहलाता है।

वैक्रियिक शरीर का लक्षण

औपपादिकं वैक्रियिकम्॥ ४६॥

अर्थ–उपपाद जन्म से होने वाला देव नारकियों का शरीर वैक्रियिक कहलाता है।

विशेष वैक्रियिक का लक्षण

लब्धि-प्रत्ययं च॥ ४७॥

अर्थ–वैक्रियिक शरीर लब्धि–निमित्तक भी होता है।

तैजस शरीर की विशेषता

तैजस-मपि॥ ४८॥

अर्थ–तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय (ऋद्धिनिमित्तक) होता है।

आहारक शरीर का स्वामी व लक्षण

शुभं विशुद्ध-मव्याघाति चाहारकं प्रमत्त-संयतस्यैव॥ ४९॥

अर्थ– आहारक शरीर शुभ है, विशुद्ध है और व्याघात–बाधारहित है तथा प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के ही होता है।

नारकियों और सम्मूर्च्छनों के वेद

नारक-सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि॥ ५०॥

अर्थ-नारकी और सम्मूर्च्छन जन्म वाले तिर्यञ्च एवं मनुष्य जीव नपुंसक होते हैं।

देवों के वेद

न देवाः॥ ५१॥

अर्थ-देव नपुंसक नहीं होते।

मनुष्यों और तिर्यञ्चों के वेद

शेषास्-त्रिवेदाः॥ ५२॥

अर्थ-शेष बचे हुए मनुष्य और तिर्यञ्च तीनों वेद वाले होते हैं।

अकालमृत्यु का अभाव

औपपादिक-चरमोत्तम-देहा-संख्येय-वर्षा-युषोऽनप-वर्त्यायुषः॥ ५३॥

अर्थ- उपपाद जन्म वाले देव, नारकी, तद्भवमोक्षगामियों में श्रेष्ठ तीर्थङ्कर आदि। तथा असंख्यात वर्ष की आयु वाले नहीं घटने योग्य भोगभूमि के जीव परिपूर्ण आयु वाले होते हैं।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे द्वितीयोऽध्यायः॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अधोलोक का वर्णन

सात पृथिवियाँ (सात नरक)

रत्न-शर्करा-बालुका-पङ्क-धूम-तमो-महातमः-प्रभा-भूमयो घनाम्बु-वाता-काश-प्रतिष्ठाः सप्ता-धोऽधः॥ १॥

अर्थ-रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमः प्रभा, ये भूमियाँ सात हैं और क्रम से नीचे-नीचे घनोदधिवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाश के आधार हैं।

सात पृथिवियों में नरकों (बिलों) की संख्या

तासु त्रिंशत्-पंचविंशति-पञ्चदश-दश-त्रि-पञ्चोनैक-नरक-शत-सहस्त्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम्॥ २॥

अर्थ-उन पृथ्वियों में क्रम से तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच नरक-बिल हैं। ये बिल जमीन में गड़े हुए ढोल की पोल के समान होते हैं।

नारकियों के लेश्यादि के दुःख

नारका नित्या-शुभतर-लेश्या परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः॥३॥

अर्थ-नारकी जीव हमेशा ही अत्यन्त अशुभ लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रिया के धारक होते हैं। अर्थात् नारकी जीव नीचे नीचे की पृथ्वियों तथा पटलों में, अधिक अशुभ भाव वाले, अशुभ स्पर्श-रूप-रस-गंध व शब्द वाले, अशुभ शरीर की बनावट वाले, अशुभ वेदना वाले तथा अशुभ विक्रिया वाले होते है।

नरकों में पारस्परिक दुःख

परस्परो-दीरित-दुःखाः॥ ४॥

अर्थ-वे परस्पर उत्पन्न किये गये दुःख वाले होते हैं। नारकी जीव परस्पर में एक दूसरे को दुःख उत्पन्न कराते रहते हैं। वे कुत्तों की तरह परस्पर में लड़ते हैं, मारते हैं, काटते हैं आदि।

नरकों में असुरकुमार देवों कृत दुःख

संक्लिष्टाऽ-सुरो-दीरित-दुःखाश्च प्राक्-चतुर्थ्याः॥ ५॥

अर्थ- और वे नारकी चौथी पृथ्वी से पहले पहले अर्थात् तीसरी पृथ्वी पर्यन्त अत्यन्त संक्लिष्ट परिणामों के धारक अम्बावरीष आदि जाति के असुरकुमार देवों के द्वारा दिये गये दुःख से युक्त होते हैं।

नारकियों की उत्कृष्ट आयु

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः॥ ६॥

अर्थ-उन नरकों में नारकी जीवों की उत्कृष्ट स्थिति क्रम से एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तेतीस सागर है।

मध्यलोक का वर्णन

जम्बूद्वीप-लवणो-दादयः शुभ-नामानो द्वीप-समुद्राः॥ ७॥

अर्थ-इस मध्यलोक में अच्छे-अच्छे नामवाले जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र हैं।

द्वीप और समुद्रों का विस्तार और आकार

द्वि-र्द्वि-र्विष्कम्भाः पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो वलया-कृतयः॥ ८॥

अर्थ-प्रत्येक द्वीप और समुद्र दूने-दूने विस्तार वाले, पहले-पहले के द्वीप समुद्र को सभी ओर से घेरे हुए तथा चूड़ी के समान आकार वाले हैं।

जम्बूद्वीप का विस्तार और आकार

तन्मध्ये मेरु-नाभिर्-वृत्तो योजन-शत-सहस्र-विष्कम्भो जम्बूद्वीपः॥ ९॥

अर्थ–उन सब द्वीप–समुद्रों के बीच में सुदर्शन मेरू रूप नाभि से युक्त थाली के समान वृत्ताकार और एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है।

क्षेत्रों के नाम

भरत–हैमवत–हरि–विदेह–रम्यक–हैरण्य–वतैरावत–वर्षाः क्षेत्राणि॥ १०॥

अर्थ–इस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

क्षेत्रों का विभाग करने वाले छह कुलाचलों के नाम

तद्–विभाजिनः पूर्वा–परायता हिमवन्–महाहिमवन्–निषध–नील–रुक्मि–शिखरिणो वर्षधर–पर्वताः॥ ११॥

अर्थ–उन सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले पूर्व से पश्चिम तक लम्बे हिमवन्, महाहिमवन्, निषध, नील, रुक्मिन् और शिखरिन् ये छह वर्षधर पर्वत हैं। क्षेत्रों के विभाग को बनाये रखने के कारण इन्हें वर्षधर कहते हैं।

कुलाचलों के वर्ण (रंग)

हेमार्जुन–तपनीय–वैडूर्य–रजत–हेममयाः॥ १२॥

अर्थ–ऊपर कहे हुए पर्वत क्रम से सुवर्ण, चाँदी, तपाया हुआ सुवर्ण, वैडूर्य मणि, चाँदी और सुवर्ण के समान वर्ण वाले हैं।

पर्वतों की विशेषता

मणि-विचित्र-पार्श्वा-उपरिमूले च तुल्य-विस्तारा:॥ १३॥

अर्थ- ये पर्वत चित्र-विचित्र कई तरह की मणियों से युक्त पार्श्व भाग वाले तथा ऊपर नीचे और मध्य में एक समान विस्तार वाले हैं।

पर्वतों पर स्थित तालाबों के नाम

पद्म-महापद्म-तिगिञ्छ-केशरि-महापुण्डरीक पुण्डरीका ह्रदास्तेषा-मुपरि॥ १४॥

अर्थ- उन पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केशरि, महापुण्डरीक तथा पुण्डरीक नाम के छह सरोवर हैं।

प्रथम तालाब की लम्बाई-चौड़ाई

प्रथमो योजन-सहस्त्राया-मस् तदर्ध विष्कम्भो ह्रद:॥ १५॥

अर्थ- पहला सरोवर एक हजार योजन लम्बा और उस से आधा अर्थात् पाँच सौ योजन चौड़ा विस्तार वाला है। अर्थात् पद्म नाम का तालाब १००० योजन लंबा और ५०० योजन चौड़ा है।

प्रथम तालाब की गहराई

दश-योजना-वगाह:॥ १६॥

अर्थ-पहला सरोवर दस योजन गहरा है।

प्रथम तालाब की विशेषता

तन्मध्ये योजनं पुष्करम्॥ १७॥

अर्थ–उसके बीच में एक योजन विस्तार वाला कमल है।

द्वितीयादि तालाबों और कमलों का विस्तार

तद्-द्विगुण-द्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च॥ १८॥

अर्थ– आगे के सरोवर और कमल क्रम से (प्रथम सरोवर तथा उसके कमल से) दूने–दूने विस्तार वाले हैं।

कमलों पर निवास करने वाली देवियाँ

तन्-निवासिन्यो देव्यः श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्यः पल्यो-पमस्थितयः ससामानिक-परिषत्काः॥ १९॥

अर्थ– एक पल्य की आयु वाली तथा सामानिक (पिता एवं गुरु तुल्य आदरणीय) और पारिषद् (मित्रवत्) जाति के देवों से सहित श्री ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम की (देव्यः) देवियाँ क्रम से उन सरोवरों के कमलों पर निवास करती हैं। ये देवियाँ व्यंतर जाति की होती हैं तथा तीर्थंकर भगवान् के कल्याणकों में आती हैं।

चौदह महानदियों के नाम

गङ्गा-सिन्धु-रोहि-द्रोहितास्या-हरिद्-धरिकान्ता-सीता-सीतोदा-नारी-नरकांता-सुवर्ण-रूप्यकूला-रक्ता-

रक्तोदाः सरितस्-तन्मध्यगाः॥ २०॥

अर्थ-१.गङ्गा २.सिन्धु, ३.रोहित ४.रोहितास्या, ५.हरित् ६.हरिकान्ता, ७.सीता ८.सीतोदा, ९.नारी १०.नरकान्ता, ११.सुवर्णकूला १२.रूप्यकूला १३.रक्ता १४. रक्तोदा, ये चौदह नदियाँ जम्बूद्वीप के पूर्वोक्त ७ क्षेत्रों के बीच में बहती हैं।

पूर्व की ओर बहने वाली नदियाँ

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः॥ २१॥

अर्थ-दो-दो में से पहली नदी पूर्व की ओर बहती है।

पश्चिम की ओर बहने वाली नदियाँ

शेषास्त्व-परगाः॥ २२॥

अर्थ-किन्तु (शेषाः) शेष नदियाँ पश्चिम को जाती हैं।

महानदियों की सहायक नदियाँ

चतुर्दश-नदी-सहस्त्र-परिवृता गङ्गा-सिन्ध्वादयो नद्यः॥ २३॥

अर्थ-गंगा-सिंधु आदि नदियों के युगल चौदह हजार सहायक नदियों से घिरे हुए हैं।

भरतक्षेत्र का विस्तार

भरतः षड्विंशति-पञ्चयोजन-शत-विस्तारः षट्चैकोन-विंशति-भागा योजनस्य॥ २४॥

अर्थ - भरतक्षेत्र पाँच सौ छब्बीस योजन विस्तार वाला (च) और एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग अधिक है।

द्वितीयादिक क्षेत्रों और पर्वतों का विस्तार

तद्द्विगुण-द्विगुण-विस्तारा वर्षधर-वर्षा विदेहान्ताः॥ २५॥

अर्थ- विदेहक्षेत्र पर्यन्त के पर्वत और क्षेत्र भरत क्षेत्र से दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

विदेहक्षेत्र से आगे के पर्वतों और क्षेत्रों का विस्तार

उत्तरा दक्षिण-तुल्याः॥ २६॥

अर्थ-विदेहक्षेत्र से उत्तर के तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिण के पर्वत और क्षेत्रों के समान विस्तार वाले हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र का परिवर्तन

भरतै-रावतयो-र्वृद्धि-ह्रासौ-षट्समयाभ्या-मुत्सर्पिण-यवसर्पिणीभ्याम्॥ २७॥

अर्थ- छः कालों से युक्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्र में जीवों के अनुभव आदि की बढ़ती तथा न्यूनता होती रहती है।

अन्यभूमियों की काल-व्यवस्था

ताभ्या-मपरा भूमयोऽवस्थिताः॥ २८॥

अर्थ-भरत और ऐरावत के सिवाय अन्य क्षेत्र एक ही अवस्था में रहते हैं उनमें काल का परिवर्तन नहीं होता।

हेमवत आदि क्षेत्रों में आयु

एक-द्वि-त्रि-पल्योपम-स्थितयो हैमवतक-हारिवर्षक-दैव-कुरवकाः॥ २९॥

अर्थ-हैमवत्, हरिवर्ष और देवकुरु (विदेहक्षेत्र के अन्तर्गत एक विशेष स्थान) के निवासी मनुष्य तथा तिर्यञ्च क्रम से एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की आयु वाले होते हैं।

हैरण्यवत आदि क्षेत्रों में आयु

तथोत्तराः ॥ ३०॥

अर्थ-उत्तर के क्षेत्रों में रहने वाले मनुष्य भी हैमवत् आदि के मनुष्यों के समान आयु वाले होते हैं।

विदेहक्षेत्र में आयु

विदेहेषु संख्येय-कालाः॥ ३१॥

अर्थ-विदेहक्षेत्र में मनुष्य और तिर्यञ्च संख्यात वर्ष की आयु वाले होते हैं।

भरतक्षेत्र का विस्तार

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवति-शत-भागः॥ ३२॥

अर्थ–भरतक्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप के एक सौ नब्बेवां भाग है।

धातकीखण्ड द्वीप की रचना

द्विर्धातकी-खण्डे॥ ३३॥

अर्थ–धातकीखण्ड नामक दूसरे द्वीप में क्षेत्र, कुलाचल, मेरु, नदी आदि समस्त पदार्थों की रचना जम्बूद्वीप से दूनी-दूनी है।

पुष्कर द्वीप का वर्णन

पुष्करार्द्धे च॥ ३४॥

अर्थ–पुष्करार्द्ध द्वीप में भी जम्बूद्वीप की अपेक्षा सब रचना दूनी-दूनी है।

मनुष्य क्षेत्र

प्राङ् मानुषोत्तरान्-मनुष्याः॥ ३५॥

अर्थ–मानुषोत्तर पर्वत के पहले अर्थात् अढ़ाई द्वीप में ही मनुष्य होते हैं।

मनुष्य के भेद

आर्या म्लेच्छाश्च॥ ३६॥

अर्थ–आर्य और म्लेच्छ के भेद से मनुष्य दो प्रकार के होते हैं।

कर्मभूमि के भेद

भरतैरावत-विदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देव-कुरूत्तर-कुरुभ्यः॥३७॥

अर्थ-पाँचों मेरु सम्बन्धी ५ भरत, ५ ऐरावत और देवकुरू-उत्तरकुरू को छोड़कर ५ विदेह, इस तरह अढ़ाईद्वीप में कुल १५ कर्मभूमियाँ हैं।

मनुष्य की उत्कृष्ट और जघन्य आयु

नृस्थिती परावरे त्रिपल्यो-पमान्त-र्मुहूर्ते॥ ३८॥

अर्थ-मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

तिर्यञ्चों की आयु

तिर्यग्योनि-जानां च॥ ३९॥

अर्थ-तिर्यञ्चों की भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति क्रम से तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त की है।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे तृतीयोऽध्यायः॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

ऊर्ध्व लोक का वर्णन

देवों के भेद

देवाश्-चतुर्णिकायाः॥ १॥

अर्थ-देव चार समूह वाले हैं।

भवनत्रिक देवों के लेश्या का विभाग

आदितस्-त्रिषु पीतान्त-लेश्याः॥ २॥

अर्थ-पहले के तीन निकायों में पीतान्त अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं।

चार निकायों के देवों के प्रभेद

दशाष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पाः कल्पोपपन्न-पर्यन्ताः॥ ३॥

अर्थ-कल्पोपपन्न (सोलहवें स्वर्ग तक के देव) पर्यन्त उक्त चार प्रकार के देवों के क्रम से दश, आठ, पाँच और बारह भेद हैं।

चार प्रकार के देवों के सामान्य भेद

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषदात्म-रक्ष-लोकपाला-नीक-प्रकीर्णका-भियोग्य-किल्विषि-काश्चैकशः॥ ४॥

अर्थ-कल्पोपपन्न (सोलहवें स्वर्ग तक के देव) पर्यन्त उक्त चार प्रकार के देवों के क्रम से दस, आठ, पाँच और बारह भेद हैं।

व्यन्तरों और ज्योतिषयों में दस भेदों में कमी

त्रायस्त्रिंश-लोकपाल-वर्ज्या व्यन्तर-ज्योतिष्का:॥ ५॥

अर्थ-व्यन्तर और ज्योतिषी देव त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल भेद से रहित हैं।

देवों में इन्द्रों की व्यवस्था

पूर्वयोर्द्वीन्द्रा:॥ ६॥

अर्थ-भवनवासी और व्यन्तरों के प्रत्येक भेद में दो-दो इन्द्र होते हैं।

देवों के कामसेवन की विधि

काय-प्रवीचारा आ ऐशानात्॥ ७॥

अर्थ- ऐशान स्वर्ग पर्यन्त के देव अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले दूसरे स्वर्ग के देव मनुष्यों के समान शरीर से काम सेवन करते हैं। प्रवीचार = कामसेवन।

शेष स्वर्गों के देवों में कामसेवन की रीति

शेषा: स्पर्श-रूप-शब्द-मन: प्रवीचारा:॥ ८॥

अर्थ–शेष स्वर्ग के देव–देवियों के स्पर्श से, रूप देखने से, शब्द सुनने से और मन के विचारने से कामसेवन करते हैं।

कल्पातीतों में मैथुन का निषेध

परेऽप्रवीचाराः॥ ९॥

अर्थ–सोलहवें स्वर्ग से आगे के देव कामसेवन से रहित होते हैं। इनके कामेच्छा ही उत्पन्न नहीं होती, तब उनके प्रतिकार से क्या प्रयोजन?

भवनवासियों के दस भेद

भवनवासिनोऽसुरनाग–विद्युत्सुपर्णाग्नि–वातस् –तनितो–दधि–द्वीप–दिक्कुमाराः॥ १०॥

अर्थ–भवनवासी देवों के असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ये दस भेद हैं।

व्यन्तर देवों के आठ भेद

व्यन्तराः किन्नर–किम्पुरुष–महोरग–गन्धर्व–यक्ष–राक्षस–भूत–पिशाचाः॥ ११॥

अर्थ–व्यन्तरदेव किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच इस प्रकार आठ तरह के होते हैं।

ज्योतिषी देवों के पाँच भेद

ज्योतिष्काः सूर्या-चन्द्र-मसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च॥१२॥

अर्थ-ज्योतिष्कदेव सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारों के भेद से पाँच प्रकार के हैं।

ज्योतिषी देवों का गमन

मेरु प्रदक्षिणा नित्य-गतयो नृलोके॥ १३॥

अर्थ-ऊपर कहे हुए ज्योतिष्क देव मनुष्य लोक में मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए हमेशा गमन करते रहते हैं।

ज्योतिषी देवों से लाभ

तत्कृतः काल-विभागः॥ १४॥

अर्थ-घड़ी, घण्टा, दिन-रात आदि व्यवहारकाल का विभाग उन्हीं गतिशील ज्योतिष्क देवों के द्वारा किया गया है।

मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिषी देवों की स्थिति

बहि-रवस्थिताः॥ १५॥

अर्थ-मनुष्यलोक (अढ़ाईद्वीप) से बाहर के ज्योतिष्क देव स्थिर हैं।

वैमानिक देवों का वर्णन

वैमानिकाः॥ १६॥

अर्थ–अब यहाँ से वैमानिक देवों का वर्णन शुरू होता है।

वैमानिक देवों के भेद

कल्पोप-पन्नाः कल्पातीताश्च॥ १७॥

अर्थ–वैमानिक देवों के दो भेद हैं–१. कल्पोपपन्न और २. कल्पातीत।

कल्पों की स्थिति का क्रम

उपर्युपरि॥ १८॥

अर्थ–सोलह स्वर्गों के आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर ये सब विमान क्रम से ऊपर-ऊपर हैं।

वैमानिक देवों के रहने का स्थान

सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर लान्तव-कापिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्त्रा-रेष्वानत-प्राणतयो-रारणा-च्युतयो-र्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ता-पराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च॥ १९॥

अर्थ–सौधर्म–ऐशान, सानत्कुमार–माहेन्द्र, ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर, लान्तव–कापिष्ठ, शुक्र–महाशुक्र, शतार–सहस्त्रार इन छह युगलों के बारह स्वर्गों में, आनत–प्राणत, इन दो स्वर्गों में, आरण–अच्युत इन दो स्वर्गों में, नव ग्रैवेयक विमानों में, नव अनुदिश विमानों में और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पाँच

अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर अधिकता

स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रिया-वधि-विषयतोऽधिकाः॥ २०॥

अर्थ-वैमानिक देव आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धता, इन्द्रिय विषय और अवधिज्ञान का विषय इन सबकी अपेक्षा ऊपर-ऊपर विमानों में अधिक-अधिक हैं।

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर हीनता

गति-शरीर-परिग्रहाभि-मानतो हीनाः॥ २१॥

अर्थ-ऊपर-ऊपर के देव गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा हीन-हीन हैं।

वैमानिक देवों में लेश्याएँ

पीत-पद्म-शुक्ल-लेश्या द्वि-त्रि शेषेषु॥ २२॥

अर्थ-दो युगलों में तीन युगलों में तथा शेष के समस्त विमानों में क्रम से पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होती है।

कल्पसंज्ञा कहाँ तक है?

प्राग-ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः॥ २३॥

अर्थ-ग्रैवेयकों से पहले-पहले अर्थात् १६ स्वर्ग तक के

विमान कल्प कहलाते हैं। इससे आगे के विमान कल्पातीत हैं। नवग्रैवेयक आदि के देव एक समान वैभव के धारी होते हैं और वे अहमिन्द्र कहलाते हैं।

लौकान्तिकों का लक्षण

ब्रह्म-लोकालया लौकान्तिकाः॥ २४॥

अर्थ-ब्रह्मलोक (पाँचवां स्वर्ग) है आलय (निवासस्थान) जिनका ऐसे लौकान्तिक देव हैं।

लौकान्तिक देवों के नाम

सारस्वता-दित्य-वह्न्य-रुण-गर्दतोय-तुषि-ताव्या-बाधा-रिष्टाश्च॥ २५॥

अर्थ-सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ लौकान्तिक देव हैं। ये ब्रह्मलोक के ऐशान आदि आठ दिशाओं में रहते हैं।

अनुदिश तथा अनुत्तरवासी देवों में अवतार के नियम

विजयादिषु द्विचरमाः॥ २६॥

अर्थ-विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित तथा अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र द्विचरम होते हैं।

तिर्यञ्च का लक्षण

औपपादिक-मनुष्येभ्यः शेषास्ि-तर्यग-योनयः॥ २७॥

अर्थ-उपपाद जन्मवाले देव, नारकी तथा मनुष्यों से अतिरिक्त शेष जीव तिर्यञ्च योनि वाले कहलाते हैं।

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु

स्थिति-रसुर-नाग-सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां सागरोपम त्रिपल्यो-पमार्द्ध-हीन-मिताः॥ २८॥

अर्थ-भवनवासियों में असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार द्वीपकुमार और शेष के ६ कुमारों की आयु क्रम से १ सागर, ३ पल्य, २$^{१}/_{२}$ पल्य, २ पल्य और १$^{१}/_{२}$ पल्य है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके॥ २९॥

अर्थ-सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में उत्कृष्ट आयु

सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त॥ ३०॥

अर्थ-सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की उत्कृष्ट आयु ७ सागर से कुछ अधिक है।

ब्रह्म से अच्युत स्वर्ग तक के देवों की उत्कृष्ट आयु

त्रि-सप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभि-रधिकानि तु॥ ३१॥

अर्थ-आगे के युगलों में ७ सागर से क्रमपूर्वक ३, ७, ९, ११, १३ और १५ सागर अधिक आयु है।

ग्रैवेयक, अनुदिश और अनुत्तरों में उत्कृष्ट आयु

आरणा-च्युता-दूर्ध्व-मेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु
विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च॥ ३२॥

अर्थ-आरण और अच्युत स्वर्ग से ऊपर नवग्रैवेयकों में विजय आदि चार विमान तथा नव अनुदिशों में और सर्वार्थसिद्धि विमान में एक-एक सागर बढ़ती हुई आयु है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जघन्यायु

अपरा पल्योपम-मधिकम्॥ ३३॥

अर्थ-सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जघन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

अन्य पटलों की उत्कृष्ट एवं जघन्यायु

परतः-परतः पूर्वा-पूर्वा-नन्तरा॥ ३४॥

अर्थ- पहले-पहले युगल की उत्कृष्ट आयु आगे-आगे के युगलों में जघन्य आयु है। जैसे सौधर्म और ऐशान स्वर्ग की जो उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक दो सागर की है वह सानत्कुमार और

माहेन्द्र स्वर्ग में जघन्य आयु है। एक समय अधिक लगा लेना चाहिए। इसी क्रम से आगे जानना चाहिए। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती।

द्वितीयादि नरकों में जघन्य आयु

नारकाणां च द्वितीयादिषु॥ ३५॥

अर्थ–इसी प्रकार दूसरे आदि नरकों में भी नारकियों की जघन्य आयु है।

प्रथम नरक में जघन्य आयु

दश-वर्ष-सहस्राणि प्रथमायाम्॥ ३६॥

अर्थ–पहले नरक में नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है।

भवनवासी देवों में जघन्य आयु

भवनेषु च॥ ३७॥

अर्थ–भवनवासियों में भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है।

व्यन्तर देवों में जघन्य आयु

व्यन्तराणां च॥ ३८॥

अर्थ–व्यन्तर देवों की भी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है।

व्यन्तर देवों में उत्कृष्ट आयु

परा पल्योपम-मधिकम्॥ ३९॥

अर्थ-व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

ज्योतिषी देवों में उत्कृष्ट आयु

ज्योतिष्काणां च॥ ४०॥

अर्थ-ज्योतिष्क देवों की भी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य की है।

ज्योतिषी देवों में जघन्य आयु

तदष्ट-भागोऽपरा॥ ४१॥

अर्थ-ज्योतिष्क देवों की जघन्य आयु उत्कृष्ट आयु के आठवें भाग प्रमाण है।

लौकान्तिक देवों में आयु

लौकान्तिका-नामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्॥ ४२॥

अर्थ- सभी लौकांतिक देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु आठ सागर प्रमाण है। इनकी शुक्ल लेश्या होती है और शरीर पाँच हाथ प्रमाण जानना चाहिए।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे चतुर्थोऽध्यायः॥

अथ पंचमोऽध्यायः

अजीव तत्त्व का वर्णन

अजीव तथा बहुप्रदेशी द्रव्य के भेद व नाम

अजीव-काया-धर्मा-धर्मा-काश-पुद्गलाः॥ १॥

अर्थ-धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार अजीव तथा बहुप्रदेशी हैं।

द्रव्यों की गणना

द्रव्याणि॥ २॥

अर्थ-उक्त चार पदार्थ द्रव्य हैं। द्रव्य का लक्षण आगे के सूत्रों में कहा जावेगा।

जीव के द्रव्यपना

जीवाश्च॥ ३॥

अर्थ-जीव भी द्रव्य हैं।

द्रव्यों की विशेषता

नित्या-वस्थिता-न्-यरूपाणि॥ ४॥

अर्थ-ऊपर कहे हुए सभी द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं। कभी नष्ट नहीं होते, इसलिए नित्य हैं। अपनी ६ संख्या

का उल्लङ्घन नहीं करते इसलिए अवस्थित हैं और रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से रहित हैं, इसलिए अरूपी हैं।

पुद्गलद्रव्य में रूपित्व का वर्णन

रूपिणः पुद्गलाः॥ ५॥

अर्थ–पुद्गल द्रव्य रूपी अर्थात् मूर्तिक हैं।

धर्मादिक द्रव्यों की संख्या

आ आकाशा-देक-द्रव्याणि॥ ६॥

अर्थ–आकाश पर्यंत एक-एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक हैं। जीव द्रव्य अनंत हैं, पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं और कालद्रव्य असंख्यात हैं।

धर्मादिक तीन द्रव्यों की निष्क्रियता

निष्क्रियाणि च॥ ७॥

अर्थ–धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य क्रिया रहित हैं।

धर्म, अधर्म और एकजीव द्रव्य के प्रदेश

असंख्येयाः प्रदेशा धर्मा-धर्मैक-जीवानाम्॥ ८॥

अर्थ– धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं।

आकाश द्रव्य के प्रदेश

आकाशस्या-नन्ता:॥ ९॥

अर्थ- आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। परन्तु लोकाकाश के असंख्यात ही हैं।

पुद्गल द्रव्य के प्रदेश

संख्येया-संख्ये-याश्च पुद्गलानाम्॥ १०॥

अर्थ- पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं।

परमाणु के प्रदेश

नाणो:॥ ११॥

अर्थ-पुद्गल के परमाणु के दो आदिक प्रदेश नहीं हैं अर्थात् वह एक प्रदेशी ही है।

समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान

लोकाकाशेऽवगाह:॥ १२॥

अर्थ-ऊपर कहे हुए समस्त द्रव्यों का अवगाह (स्थान) लोकाकाश में है।

धर्म और अधर्म द्रव्य के रहने का स्थान

धर्मा-धर्मयो: कृत्स्ने॥ १३॥

अर्थ-धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह तिल में तेल की

तरह समस्त लोकाकाश में है।

पुद्गल के रहने का स्थान

एक-प्रदेशा-दिषु भाज्यः पुद्गलानाम्॥१४॥

अर्थ-पुद्गल द्रव्यों का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश को आदि लेकर संख्यात, असंख्यात तथा सम्पूर्ण लोकक्षेत्र प्रदेशों में विभाग करने योग्य है।

एक जीव के रहने का स्थान

असंख्येय-भागादिषु जीवानाम्॥ १५॥

अर्थ-जीवों का अवगाह लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकक्षेत्र में है।

असंख्यातप्रदेशी जीवद्रव्य का लोक के असंख्यातवें भाग में रह सकने का स्पष्टीकरण

प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत्॥ १६॥

अर्थ-दीपक के प्रकाश की तरह प्रदेशों के संकोच और विस्तार के द्वारा जीव लोकाकाश के असंख्यातवें आदि भागों में रहता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य का कार्य या लक्षण

गति-स्थित्यु-पग्रहौ धर्मा-धर्मयो-रुपकारः॥ १७॥

अर्थ-स्वयमेव गमन तथा स्थिति को प्राप्त हुए जीव और

पुद्गलों को गति तथा स्थिति में सहायता देना क्रम से धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है।

आकाश द्रव्य का उपकार या कार्य

आकाशस्या-वगाहः॥१८॥

अर्थ-समस्त द्रव्यों को अवकाश देना आकाश द्रव्य का उपकार है।

पुद्गलद्रव्य का उपकार या कार्य

शरीर-वाङ्मनः प्राणा-पानाः पुद्गलानाम्॥ १९॥

अर्थ-औदारिक आदि शरीर, वचन, मन तथा श्वासोच्छ्वास ये पुद्गलद्रव्य के उपकार हैं, अर्थात् शरीरादि की रचना पुद्गल से ही होती है।

पुद्गल द्रव्य का उपकार या कार्य

सुख-दुःख-जीवित-मरणो-पग्रहाश्च॥ २०॥

अर्थ-इन्द्रियजन्य सुख-दुःख, जीवन-मरण ये भी पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं।

जीवों का उपकार या कार्य

परस्परो-पग्रहो जीवानाम्॥ २१॥

अर्थ-परस्पर निमित्त होना यह जीवों का उपकार है अर्थात्

जीव कारणवश एक दूसरे का उपकार करते हैं।

कालद्रव्य का उपकार या कार्य

वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वा-परत्वे च कालस्य॥ २२॥

अर्थ-वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार हैं।

पुद्गल द्रव्य का लक्षण

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः॥ २३॥

अर्थ-स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं।

पुद्गल की पर्यायें

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश-छाया-तपोद्योत-वन्तश्च॥२४॥

अर्थ-उक्त लक्षण वाले पुद्गल-शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत सहित हैं। अर्थात् ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं।

पुद्गल के भेद

अणवः स्कन्धाश्च॥ २५॥

अर्थ-पुद्गलद्रव्य के अणु और स्कन्ध दो भेद हैं।

स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण

भेद-संघातेभ्य उत्पद्यन्ते॥ २६॥

अर्थ-पुद्गलद्रव्य के स्कन्ध, भेद (बिछुड़ने), संघात (मिलने) और भेद-संघात (दोनों) से उत्पन्न होते हैं।

परमाणु की उत्पत्ति का कारण

भेदादणुः॥ २७॥

अर्थ-अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है।

चाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति का कारण

भेद संघाताभ्यां चाक्षुषः॥ २८॥

अर्थ- चक्षु इन्द्रिय से देखने योग्य स्कन्ध भेद और संघात दोनों से ही उत्पन्न होते हैं। केवल भेद से या केवल संघात से उत्पन्न नहीं होते हैं।

द्रव्य का लक्षण

सद् द्रव्य-लक्षणम्॥ २९॥

अर्थ-द्रव्य का लक्षण सत् (अस्तित्व) है।

सत् का लक्षण

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्॥ ३०॥

अर्थ-जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित हो, वह सत्

है।

ध्रौव्य का लक्षण

तद्-भावाव्ययं नित्यम्॥ ३१॥

अर्थ- द्रव्य के अपने भाव का नाश नहीं होना।

एक वस्तु में दो विरुद्ध धर्म सिद्ध करने की रीति

अर्पिता-नर्पित-सिद्धेः॥ ३२॥

अर्थ-मुख्यता और गौणता के कथन की अपेक्षा वस्तु की सिद्धि होती है।

परमाणुओं के बन्ध में कारण

स्निग्ध-रूक्षत्वाद् बन्धः॥ ३३॥

अर्थ-स्निग्ध और रूक्ष गुण वाला होने से दो, तीन आदि परमाणुओं का बन्ध होता है।

एक गुण वाले परमाणु में बन्ध का अभाव

न जघन्य-गुणानाम्॥ ३४॥

अर्थ-जघन्य गुण सहित परमाणुओं का बन्ध नहीं होता।

बन्धाभाव का नियम

गुण-साम्ये सदृशानाम्॥ ३५॥

अर्थ–गुणों की समानता होने पर समान जाति वाले परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होता। जैसे दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु का दूसरे दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता।

बन्ध किनका होता है

द्व्यधिकादि-गुणानां तु॥ ३६॥

अर्थ–किन्तु दो अधिक गुण वाले परमाणुओं का ही बन्ध होता है।

बन्ध होने पर होने वाली अवस्था

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च॥ ३७॥

अर्थ–बन्ध होने पर अधिक गुण वाले परमाणु कम गुण वाले परमाणुओं को अपने रूप परिणमाने वाले भी होते हैं। जैसे गीला गुड़ अपने साथ बन्ध को प्राप्त हुई धूल को गुड़रूप परिणमा लेता है।

द्रव्य का दूसरा लक्षण

गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्॥ ३८॥

अर्थ–जिसमें गुण और पर्याय पाई जावें, उसे द्रव्य कहते हैं।

काल भी द्रव्य है

कालश्च॥ ३९॥

अर्थ–काल भी द्रव्य है, क्योंकि यह भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा गुण, पर्यायों से सहित है।

कालद्रव्य की विशेषता

सोऽनन्त-समयः॥ ४०॥

अर्थ–वह काल द्रव्य अनन्त समय वाला है। यद्यपि वर्तमान काल एक समयमात्र ही है तथापि भूत भविष्यत् की अपेक्षा अनन्त समयवाला है।

गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः॥ ४१॥

अर्थ–जो द्रव्य के आश्रय हों और स्वयं दूसरे गुणों से रहित हों, वे गुण कहलाते हैं, जैसे–जीव के ज्ञान आदि। ये जीव द्रव्य के आश्रय रहते हैं तथा इनमें कोई दूसरा गुण नहीं रहता।

पर्याय का लक्षण

तद्भावः परिणामः॥ ४२॥

अर्थ–जीवादि द्रव्य जिस रूप हैं, उनके उसी रूप रहने को परिणाम या पर्याय कहते हैं।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे पञ्चमोऽध्यायः॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

आस्रव तत्त्व का वर्णन

योग के भेद या स्वरूप

काय-वाङ्-मनः कर्म योगः॥ १॥

अर्थ-काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं।

आस्रव का स्वरूप

स आस्रवः॥ २॥

अर्थ-वह तीन प्रकार का योग ही आस्रव है।

योग के निमित्त से आस्रव के भेद

शुभः पुण्यस्या-शुभः पापस्य॥ ३॥

अर्थ-शुभ योग पुण्यकर्म के आस्रव में और अशुभ योग पापकर्म के आस्रव में कारण है।

स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद

सकषाया-कषाययोः साम्परायि-केर्या-पथयोः॥ ४॥

अर्थ- कषाय सहित जीवों के साम्परायिक आस्रव और कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव होता है।

साम्परायिक आस्रव के भेद

इन्द्रिय-कषाया-व्रतक्रिया: पञ्च-चतु: पञ्च-
पञ्चविंशति-संख्या: पूर्वस्य भेदा:॥ ५॥

अर्थ-स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ, क्रोधादि चार कषाय, हिंसादि पाँच अव्रत (पाप) और सम्यक्त्व आदि पच्चीस क्रियाएँ, इस तरह साम्परायिक आस्रव के ३९ भेद हैं।

आस्रव की विशेषता में कारण

तीव्र-मन्द-ज्ञाता-ज्ञात-भावाधिकरण-वीर्य-विशेषेभ्यस्-
तद्विशेष:॥ ६॥

अर्थ-तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्यविशेष से आस्रव में विशेषता होती है।

आस्रव के अधिकरण के भेद

अधिकरणं जीवाजीवा:॥ ७॥

अर्थ-अधिकरण के दो भेद हैं-

१.जीवाधिकरण २.अजीवाधिकरण।

जीवाधिकरण के भेद

आद्यं संरम्भ-समारम्भारम्भ-योग-कृत-कारितानुमत-
कषाय-विशेषैस्-त्रिस्-त्रिस्-त्रिश्-चतुश्चैकश:॥ ८॥

अर्थ-आदि का जीवाधिकरण आस्रव-संरम्भ, समारम्भ,

आरम्भ तथा मन, वचन, कायरूप तीन योग, कृत, कारित, अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषायों की विशेषता से १०८ भेद रूप हैं।

अजीवाधिकरण के भेद

निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्वि-चतुर्द्वि-त्रि-भेदाः परम्॥ ९॥

अर्थ-पर अर्थात् अजीवाधिकरण आस्रव-दो प्रकार की निवर्तना, चार प्रकार का निक्षेप, दो प्रकार का संयोग और तीन प्रकार का निसर्ग, इस तरह ११ भेद वाला है।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के कारण

तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तराया-सादनोप-घाता ज्ञान-दर्शनावरणयोः॥ १०॥

अर्थ-ज्ञान और दर्शन के विषय में किये गये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं।

असातावेदनीय के आस्रव के कारण

दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेव-नान्यात्म-परोभय-स्थानान्य-सद्वेद्यस्य॥ ११॥

अर्थ-निज, पर अथवा दोनों के विषय में स्थित दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असातावेदनीय के आस्रव में कारण हैं।

सातावेदनीय कर्म के आस्त्रव के कारण

भूत-व्रत्यनु-कम्पा-दान-सराग-संयमादियोगः क्षान्तिः शौच-मिति सद्-वेद्यस्य॥ १२॥

अर्थ-भूतव्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षांति, शौच तथा अर्हद्भक्ति आदि ये सातावेदनीय के आस्त्रव हैं।

दर्शनमोहनीय के आस्त्रव के कारण

केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवा-वर्णवादो दर्शनमोहस्य॥ १३॥

अर्थ-केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद करना दर्शनमोहनीय कर्म का आस्त्रव में कारण है।

चारित्रमोहनीय के आस्त्रव के कारण

कषायो-दयात्-तीव्र-परिणामश्-चारित्रमोहस्य॥ १४॥

अर्थ-कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम चारित्रमोहनीय के आस्त्रव में कारण हैं।

नरक आयु के आस्त्रव के कारण

बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्या-युषः॥ १५॥

अर्थ-बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह में आसक्ति होना नरकायु के आस्त्रव में कारण है।

तिर्यञ्च आयु के आस्त्रव के कारण

माया तैर्यग्योनस्य॥ १६॥

अर्थ- छलकपट तिर्यञ्च आयु के आस्रव में कारण है।

मनुष्य आयु के आस्रव के कारण

अल्पारम्भ परिग्रहत्वं मानुषस्य॥ १७॥

अर्थ-थोड़े आरम्भ और थोड़े परिग्रह में आसक्ति होना मनुष्य आयु के आस्रव में कारण है।

मनुष्यायु के आस्रव का कारणान्तर

स्वभाव-मार्दवं च॥ १८॥

अर्थ-स्वभाव से ही सरल परिणामी होना भी मनुष्य आयु के आस्रव में कारण हैं।

चारों आयुओं के आस्रव का कारण

निःशील-व्रतत्वं च सर्वेषाम्॥ १९॥

अर्थ-दिग्व्रतादि ७ शील और अहिंसादि पाँच व्रतों का अभाव भी समस्त आयुओं के आस्रव में कारण है।

देव आयु के आस्रव के कारण

सरागसंयम-संयमासंयमा-कामनिर्जरा-बालतपांसि दैवस्य॥२०॥

अर्थ-सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देव आयु के आस्रव में कारण हैं।

देवायु के आस्त्रव का कारणान्तर

सम्यक्त्वं च॥ २१॥

अर्थ–सम्यग्दर्शन भी देवायु कर्म के आस्त्रव में कारण है।

अशुभ नामकर्म के आस्त्रव के कारण

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः॥ २२॥

अर्थ–योगों की कुटिलता और विसंवाद अशुभ नाम कर्म के आस्त्रव में कारण है।

शुभ नामकर्म के आस्त्रव का कारण

तद्विपरीतं शुभस्य॥ २३॥

अर्थ–योग वक्रता और विसंवाद से विपरीत शुभ नामकर्म के आस्त्रव हैं।

तीर्थंकर नामकर्म के आश्रव के कारण

दर्शनविशुद्धिर्–विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्–
वनतीचारोऽभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग–संवेगौ शक्तितस्त्याग–
तपसी साधुसमाधिर्–वैयावृत्त्यकरण–मर्हदाचार्य बहुश्रुत–
प्रवचन भक्ति–रावश्यका परिहाणिर् मार्गप्रभावना–
प्रवचनवत्सलत्व मिति तीर्थकरत्वस्य॥ २४॥

अर्थ–१. दर्शनविशुद्धि २. विनयसम्पन्नता ३. शीलव्रतादि का पालन ४.अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग ५. अभीक्ष्ण संवेग ६. शक्तितस्त्याग

७. शक्तितस्तप ८. साधु समाधि ९. वैयावृत्ति १०. अर्हत् भक्ति ११.आचार्य भक्ति १२. बहुश्रुतभक्ति १३. प्रवचनभक्ति १४. आवश्यक अपरिहाणि १५. मार्गप्रभावना १६. प्रवचन वात्सल्य। ये सोलहकारण भावनायें तीर्थंकरप्रकृति नामक नामकर्म के आस्त्रव में कारण हैं।

नीचगोत्र के आस्त्रव के कारण

परात्म-निन्दा-प्रशंसे सदसद्-गुणोच्छादनोद्-भावने च नीचैर्-गोत्रस्य॥ २५॥

अर्थ-दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना तथा दूसरे के मौजूद गुणों को ढांकना और अपने झूठे गुणों को प्रकट करना, तथा अन्य अशुभ एवं गलत कार्य ये नीच गोत्रकर्म के आस्त्रव में कारण हैं।

उच्चगोत्र कर्म के आस्त्रव के कारण

तद्विपर्ययो नीचैर्-वृत्त्य-नुत्सेकौ चोत्तरस्य॥ २६॥

अर्थ- नीच गोत्र के उपरोक्त कारणों से विपरीत और नम्र वृत्ति तथा मद का अभाव ये उच्च गोत्रकर्म के आस्त्रव में कारण हैं।

अन्तराय कर्म के आस्त्रव का कारण

विघ्नकरण-मन्तरायस्य॥ २७॥

अर्थ- दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न करना, अन्तरायकर्म के आस्त्रव में कारण हैं।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे षष्ठोऽध्यायः॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

शुभास्त्रव का वर्णन

व्रत का लक्षण

हिंसानृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरति-र्व्रतम्॥ १॥

अर्थ-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापों से विरक्त होना व्रत कहलाता है।

व्रत के भेद

देश-सर्वतोऽणु-महती॥ २॥

अर्थ-व्रत के दो भेद हैं-१. अणुव्रत २. महाव्रत।

व्रतों की स्थिरता के कारण

तत्-स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च॥ ३॥

अर्थ-उन व्रतों की स्थिरता के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनायें हैं।

अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ

वाङ्मनो-गुप्तीर्या-दान-निक्षेपण-समित्या-लोकितपान भोजनानि पञ्च॥४॥

अर्थ - वाग्गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति, आलोकितपान भोजन ये पाँच अहिंसा व्रत की भावनायें हैं।

सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ

क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानान्-यनुवीचि-भाषणं च पञ्च॥ ५॥

अर्थ-क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान, अनुवीचिभाषण, ये पाँच सत्यव्रत की भावनायें हैं।

अचौर्यव्रत की पाँच भावनाएँ

शून्यागार विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्मा-विसंवादा: पञ्च॥ ६॥

अर्थ-शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्य-शुद्धि और सधर्माविसंवाद, ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनायें हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ

स्त्रीराग-कथाश्रवण-तन्मनोहरांग-निरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कार-त्यागा:पञ्च॥७॥

अर्थ-स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग, तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण त्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, वृष्येष्टरस त्याग और स्वशरीरसंस्कार त्याग,ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनायें हैं।

परिग्रहत्याग की भावनाएँ

मनोज्ञा-मनोज्ञेन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पञ्च॥ ८॥

अर्थ–स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों के इष्ट–अनिष्ट विषयों में क्रम से रागद्वेष का त्याग करना, ये पाँच परिग्रहत्याग व्रत की भावनायें हैं।

हिंसादि पापों से विरक्त होने की भावना

हिंसा–दिष्विहा–मुत्रा–पाया–वद्य–दर्शनम्॥ ९॥

अर्थ– हिंसादि पाँच पापों के होने पर इस लोक में तथा परलोक में सांसारिक और पारमार्थिक प्रयोजनों का नाश तथा निन्दा को देखना पड़ता है, ऐसा विचार करें।

पापों से विरक्त होने की भावना

दुःखमेव वा॥ १०॥

अर्थ–अथवा हिंसादि पाँच पाप दुःखरूप ही हैं, ऐसा विचार करें।

व्रतधारी सम्यग्दृष्टि की भावनाएँ

मैत्री–प्रमोद–कारुण्य–माध्यस्थ्यानि च सत्त्व–गुणाधिक–क्लिश्य–माना–विनयेषु॥११॥

अर्थ–और प्राणी, गुणाधिक , रोगी वगैरह और अविनय जीवों में क्रम से मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना भावें।

संसार और शरीर के स्वभाव का विचार

जगत्काय–स्वभावौ वा संवेग–वैराग्यार्थम्॥ १२॥

अर्थ–संवेग और वैराग्य के लिये क्रम से संसार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करें।

हिंसापाप का लक्षण

प्रमत्त-योगात्प्राण-व्यपरोपणं हिंसा॥ १३॥

अर्थ-प्रमाद के योग से यथासंभव द्रव्य प्राणों या भाव प्राणों का वियोग करना, हिंसा है।

असत्यपाप का लक्षण

अस-दभिधान-मनृतम्॥ १४॥

अर्थ-प्रमाद के योग से जीवों को दु:खदायक वा मिथ्यारूप वचन बोलना, झूठ पाप है।

चोरीपाप का लक्षण

अदत्तादानं स्तेयम्॥ १५॥

अर्थ-प्रमाद के योग से बिना दी हुई किसी की वस्तु को ग्रहण करना चोरी पाप है।

कुशीलपाप का लक्षण

मैथुन-मब्रह्म॥ १६॥

अर्थ-मैथुन को अब्रह्म अर्थात् कुशील कहते हैं।

परिग्रहपाप का लक्षण

मूर्च्छा परिग्रह:॥ १७॥

अर्थ-मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं।

व्रती का लक्षण

निःशल्यो-व्रती॥ १८॥

अर्थ-शल्यरहित जीव ही व्रती है।

व्रती के भेद

अगार्य-नगारश्च॥ १९॥

अर्थ-अगारी और अनगार इस प्रकार व्रती के दो भेद हैं।

अगारी का लक्षण

अणुव्रतोऽगारी॥ २०॥

अर्थ-अणु अर्थात् एकदेश व्रत पालने वाला जीव अगारी (गृहस्थ या श्रावक) कहलाता है।

अणुव्रत के सहायक सात शीलव्रत

दिग्देशानर्थ-दण्डविरति-सामायिक-प्रोषधोप-वासोपभोग-परिभोग-परिमाणातिथि-संविभाग-व्रत-सम्पन्नश्च॥ २१॥

अर्थ-वह व्रती दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन गुणव्रतों से तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण और अतिथिसंविभागव्रत इन चार शिक्षाव्रतों से सहित होता है।

व्रती को सल्लेखना धारण करने का उपदेश

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता॥ २२॥

अर्थ–गृहस्थ, मरण के समय होने वाली सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार

शङ्का-कांक्षा-विचिकित्सान्य-दृष्टि-प्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टे-रतिचाराः॥ २३॥

अर्थ–शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, अन्यदृष्टि संस्तव, ये सम्यग्दर्शन के ५ अतिचार हैं।

व्रतों और शीलों के अतिचार की संख्या

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्॥ २४॥

अर्थ–पाँच व्रत और सात शीलों में क्रम से पाँच-पाँच अतिचार होते हैं।

अहिंसाणुव्रत के अतिचार

बन्ध-वधच्छेदाति-भारारोप-णान्न-पान-निरोधाः॥ २५॥

अर्थ–बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध, ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

सत्याणुव्रत के अतिचार

मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः॥ २६॥

अर्थ-मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद, ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार

स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्ध-राज्यातिक्रम-हीनाधिक-मानोन्मान-प्रतिरूपक-व्यवहाराः॥ २७॥

अर्थ-स्तेनप्रयोग, स्तेनतदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार, ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार

परविवाह-करणेत्वरिका-परिगृहीता-परिगृहीता-गमनानङ्ग-क्रीडा-काम-तीव्राभिनिवेशाः॥ २८॥

अर्थ-परविवाहकरण,परिगृहीतेत्वरिकागमन, अपरिगृहीतेत्वरिकागमन, अनङ्गक्रीड़ा, कामतीव्राभिनिवेश ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार

क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धनधान्य-दासी-दास-कुप्य-भाण्ड प्रमाणाऽतिक्रमाः॥ २९॥

अर्थ - क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम, हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम, धनधान्यप्रमाणातिक्रम, दासीदासप्रमाणातिक्रम और कुप्य-भाण्ड प्रमाणातिक्रम, ये पाँच परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार हैं।

ऊर्ध्वा-धस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तरा-धानानि॥ ३०॥

अर्थ-ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान, ये पाँच दिग्व्रत के अतिचार हैं।

देशव्रत के अतिचार

आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः॥ ३१॥

अर्थ-आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप, ये पाँच देशव्रत के अतिचार हैं।

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्या-समीक्ष्याधि-करणोपभोग-परिभोगा-नर्थक्यानि॥ ३२॥

अर्थ-कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य, ये पाँच अनर्थदण्डव्रत के अतिचार हैं।

सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार

योग-दुष्प्रणि-धानानादर-स्मृत्यनु-पस्थानानि॥ ३३॥

अर्थ-मनोयोग दुष्प्रणिधान, वाग् योगदुष्प्रणिधान, काययोग-दुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान, ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार

अप्रत्य-वेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोप-क्रमणा-नादर-स्मृत्यनु-पस्थानानि॥ ३४॥

अर्थ- अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जिता-दान, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुप-स्थान, ये पाँच प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत के अतिचार

सचित्त-सम्बन्ध-सम्मिश्रा-भिषव-दु:पक्वाहारा:॥ ३५॥

अर्थ-सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सचित्तसम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दु:पक्वाहार, ये पाँच भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार हैं।

अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार

सचित्त-निक्षेपा-पिधान-पर-व्यपदेश-मात्सर्य-कालातिक्रमा:॥ ३६॥

अर्थ–सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पाँच अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार हैं।

सल्लेखना के अतिचार

जीवित-मरणा-शंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि॥ ३७॥

अर्थ–जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान, ये पाँच सल्लेखना व्रत के अतिचार हैं।

दान में विशेषता

अनुग्रहार्थं स्वस्याति-सर्गो दानम्॥ ३८॥

अर्थ- अपने और पर के उपकार के लिए अपने वस्तु या धनादि का त्याग करना दान हैं।

दान में विशेषता

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्-तद्विशेषः॥ ३९॥

अर्थ–विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष और पात्रविशेष से उस दान में विशेषता होती है।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे सप्तमोऽध्यायः॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

बन्ध तत्त्व का वर्णन

बन्ध के कारण

मिथ्यादर्शना-विरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्ध-हेतवः॥ १॥

अर्थ-मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्मबन्ध के कारण हैं।

बन्ध का लक्षण

सकषायत्वाज्-जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गला-
नादत्ते स बन्धः॥ २॥

अर्थ- जीव कषाय सहित होने से कर्म के योग्य कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणुओं को जो ग्रहण करता है, वह बंध है।

बन्ध के भेद

प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशास् तद्विधयः॥ ३॥

अर्थ-प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभव बन्ध (अनुभाग बन्ध) और प्रदेश बन्ध।

प्रकृतिबन्ध के मूल भेद

आद्यो ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनी-यायुर्नाम-
गोत्रान्तरायाः॥ ४॥

अर्थ–पहला प्रकृतिबन्ध–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ऐसे आठ प्रकार का है।

प्रकृतिबन्ध के उत्तरभेद

पञ्च-नव-द्व्यष्टा-विंशति-चतुर्द्वि-चत्वारिंशद्-द्वि-पञ्च-भेदा यथाक्रमम्॥ ५॥

अर्थ– ज्ञानावरणादि कर्मों के क्रम से पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, व्यालीस, दो और पाँच भेद हैं।

ज्ञानावरण के पाँच भेद

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानाम्॥ ६॥

अर्थ–मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, ये पाँच ज्ञानावरण के भेद हैं। यहाँ ढाँकने का अर्थ उत्पन्न न होने दे लगाना चाहिए।

दर्शनावरण के नौ भेद

चक्षु-रचक्षुरवधि-केवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यान-गृद्धयश्च॥ ७॥

अर्थ–चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये ९ दर्शनावरण कर्म के भेद हैं।

वेदनीय के दो भेद

स-दसद्-वेद्ये॥ ८॥

अर्थ–साता और असाता ये दो वेदनीय कर्म के भेद हैं।

मोहनीय कर्म के २८ भेद

दर्शन-चारित्र-मोहनीया-कषाय-कषाय-वेदनीयाख्यास्-त्रि-द्वि-नव-षोडशभेदा: सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्य-कषाय-कषायौ-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुन्नपुंसक-वेदा अनंतानुबंध्य प्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान संज्वलन-विकल्पाश्-चैकश: क्रोध-मान-माया-लोभा:॥ ९॥

अर्थ – दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय इन चार भेदरूप मोहनीय कर्म क्रम से तीन, दो, नौ और सोलह भेदरूप है। जिनमें से सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीय कर्म के भेद हैं। अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय ये दो भेद चारित्र मोहनीय के हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ये ९ अकषाय वेदनीय के भेद हैं और अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन इन चार भेद स्वरूप क्रोध, मान, माया, लोभ ये सोलह भेद कषाय वेदनीय के हैं।

आयुकर्म के चार भेद

नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि॥ १०॥

अर्थ–नरकायु, तिर्यग्यायु, मानुषायु और देवायु ये चार आयुकर्म के भेद हैं।

नाम कर्म के भेद

गति-जाति-शरीराङ्गोपाङ्ग-निर्माण-बंधन-संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गंध-वर्णानुपूर्व्या-गुरुलघूपघात-परघाता-तपोद्यो-तोच्छ्वास-विहायोगतयः प्रत्येकशरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिरादेय-यशःकीर्ति-सेतराणि तीर्थकरत्वं च॥ ११॥

अर्थ-गति, जाति, शरीर, अङ्गोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति। ये इक्कीस तथा प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति ये दश तथा इनके उल्टे साधारण, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, अयशःकीर्ति, ये दश और तीर्थकरत्व इस प्रकार सब मिलकर नामकर्म के ४२ भेद हैं।

गोत्रकर्म के भेद

उच्चैर्-नीचैश्च॥ १२॥

अर्थ-उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो गोत्रकर्म हैं।

अन्तराय कर्म के भेद

दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम्॥१३॥

अर्थ-दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये अन्तरायकर्म के ५ भेद हैं। जिसके उदय से

जीव, दान की इच्छा रखता हुआ भी दान न कर सके उसे दानान्तराय कर्म कहते हैं। इस प्रकार अन्य भेदों के भी लक्षण समझना चाहिए।

स्थितिबन्ध का वर्णन

आदितस्-तिसृणा-मन्तरायस्य च त्रिंशत्-सागरोपम-कोटी-कोट्यः परा स्थितिः॥ १४॥

अर्थ-आदि के तीन (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय)और अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ३०कोड़ाकोड़ी सागर है।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

सप्ततिर्-मोहनीयस्य॥ १५॥

अर्थ-मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७०कोड़ाकोड़ी सागर है।

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

विंशतिर्-नाम-गोत्रयोः॥ १६॥

अर्थ-नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर है।

आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

त्रयस्-त्रिंशत्-सागरोपमाण-यायुषः॥ १७॥

अर्थ-आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है।

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति

अपरा द्वादश-मुहूर्ता वेदनीयस्य॥ १८॥

अर्थ–वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है।

नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति

नाम-गोत्रयो-रष्टौ॥ १९॥

अर्थ–नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है।

शेष पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति

शेषाणा-मन्तर्मुहूर्ता:॥ २०॥

अर्थ–बाकी के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

अनुभाग बन्ध का लक्षण

विपाकोऽनुभव:॥ २१॥

अर्थ–कषायों की तीव्रता, मन्दता अथवा मध्यमता से जो आस्रव में विशेषता होती है, उससे होने वाले विशेष पाक को, विपाक कहते हैं।

अनुभाग बन्ध कर्म के नामानुसार होता है

स यथानाम्॥ २२॥

अर्थ - वह अनुभागबन्ध कर्मों के नामानुसार ही होता है।

फल दे चुकने के बाद कर्म की निर्जरा

ततश्च निर्जरा॥ २३॥

अर्थ–तीव्र मन्द या मध्यम फल दे चुकने के बाद कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

प्रदेशबन्ध का लक्षण

नाम-प्रत्यया: सर्वतो योग-विशेषात् सूक्ष्मैक-क्षेत्रावगाह-स्थिता: सर्वात्म-प्रदेशेष्-वनन्तानन्त-प्रदेशा:॥ २४॥

अर्थ–ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों के कारणभूत सब ओर से अथवा देव, नारकादि समस्त भवों में मन, वचन, कायरूप योग विशेष से सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाह रूप तथा स्थित सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशों में जो कर्मरूप पुद्गल के अनन्तानन्त आत्मसात् प्रदेश हैं, उसको प्रदेशबन्ध कहते हैं।

पुण्य प्रकृतियाँ

सद्वेद्य-शुभायुर्-नाम-गोत्राणि पुण्यम्॥ २५॥

अर्थ–साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये ६८ पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

पाप प्रकृतियाँ

अतोऽन्यत्-पापम्॥ २६॥

अर्थ–इससे भिन्न अर्थात् असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र ये पाप प्रकृतियाँ हैं। इनकी संख्या १०० है।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे अष्टमोऽध्याय:॥

अथ नवमोध्यायः

संवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन

संवर का लक्षण

आस्त्रव-निरोधः संवरः॥ १॥

अर्थ-आस्त्रव का रुकना संवर है।

संवर के कारण

स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय चारित्रैः॥ २॥

अर्थ-वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र, इन छह कारणों से होता है।

निर्जरा और संवर का कारण

तपसा निर्जरा च॥ ३॥

अर्थ-तप से निर्जरा होती है और संवर भी होता है।

गुप्ति का लक्षण व भेद

सम्यग्योग-निग्रहो गुप्तिः॥ ४॥

अर्थ-भले प्रकार से अर्थात् विषयाभिलाषा को छोड़कर, काय, वचन और मन की स्वच्छन्द प्रवृत्ति के रोकने को गुप्ति कहते हैं। उसके तीन भेद हैं-

समिति के भेद

ईर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः॥ ५॥

अर्थ-ईर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और उत्सर्ग समिति, ये पाँच समिति के भेद हैं।

धर्म के भेद

उत्तम-क्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागा-किञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः॥ ६॥

अर्थ-उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य, ये दस धर्म हैं।

अनुप्रेक्षाओं के बारह भेद

अनित्या-शरण-संसारै-कत्वा-न्यत्वा-शुच्यास्त्रव संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्म-स्वाख्या-तत्त्वानु-चिन्तन-मनुप्रेक्षाः॥ ७॥

अर्थ-अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह के स्वरूप को बार-बार चिंतन करना, अनुप्रेक्षा है।

परीषह सहन करने का उपदेश

मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः॥ ८॥

अर्थ–संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिये बाईस परीषह सहन करने योग्य हैं।

परीषहों के भेद

क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-नान्यारति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्याक्रोश-वध-याचना-लाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कार-पुरस्कार-प्रज्ञाऽज्ञाना-दर्शनानि॥ ९॥

अर्थ–१. क्षुधा २. तृषा ३. शीत ४. उष्ण ५. दंशमशक ६. नाग्न्य ७. अरति ८. स्त्री ९. चर्या १०. निषद्या ११. शय्या १२. आक्रोश १३. वध १४. याचना १५. अलाभ १६. रोग १७. तृण-स्पर्श १८. मल १९. सत्कार-पुरस्कार २०. प्रज्ञा २१. अज्ञान और २२. अदर्शन ये बाईस परीषह हैं।

१०,११,१२ वें गुणस्थान में परीषह

सूक्ष्म-सांपराय-छद्मस्थ वीतरागयोश्-चतुर्दश॥ १०॥

अर्थ–सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें और छद्मस्थ वीतराग अर्थात् ग्यारहवें उपशांतमोह तथा बारहवें क्षीणमोह नामक गुणस्थान[१] में १४ परीषह होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं। १. क्षुधा २. तृषा ३. शीत ४. उष्ण ५. दंशमशक ६. चर्या ७. शय्या ८. वध ९. अलाभ १०. रोग ११. तृणस्पर्श १२. मल १३. प्रज्ञा और १४. अज्ञान।

सयोगकेवली तेहरवें गुणस्थान में परीषह

एकादश जिने॥ ११॥

अर्थ–केवली भगवान् के ११ परीषह संभव हैं।

छठें से नवम गुणस्थान तक परिषह

बादर-साम्पराये सर्वे॥१२॥

अर्थ–बादर साम्पराय अर्थात् स्थूल कषाय वाले छठवें से नवमें गुणस्थान तक सब परीषह होते हैं। क्योंकि इन गुणस्थानों में परीषहों के कारणभूत कर्मों का उदय है।

ज्ञानावरण का उदय होने पर होने वाले परिषह

ज्ञानावरणे-प्रज्ञाज्ञाने॥१३॥

अर्थ–प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से होते हैं।

दर्शनमोह और अन्तराय का उदय होने पर होने वाले परिषह

दर्शन-मोहान्तराययो-रदर्शनालाभौ॥१४॥

अर्थ–दर्शनमोहनीय और अन्तराय कर्म का उदय होने पर क्रम से अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं।

चारित्रमोह के उदय होने पर होने वाले परिषह

चारित्रमोहे नाग्न्यारति-स्त्री-निषद्याक्रोश-याचना-

सत्कार-पुरस्काराः॥१५॥

अर्थ-चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार ये ७ परीषह होते हैं।

वेदनीय के उदय से होने वाले परीषह

वेदनीये शेषाः॥१६॥

अर्थ-शेष ११ परीषह (क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल) वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं।

एक साथ होने वाले परिषह

एकादयो भाज्या-युगपदे-कस्मिन्-नैकोनविंशतिः॥१७॥

अर्थ- एक साथ एक जीव में एक को आदि लेकर उन्नीस परीषह तक विभक्त करना चाहिए।

चारित्र के भेद

सामायिकच्-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम्॥१८॥

अर्थ-सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये चारित्र के पाँच भेद हैं।

बाह्य तप के भेद

अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्त-शय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः॥१९॥

अर्थ-१. अनशन २. अवमौदर्य ३. वृत्तिपरिसंख्यान ४. रसपरित्याग ५. विविक्तशय्यासन ६. कायक्लेश ये बाह्य तप हैं।

आभ्यन्तर तप के भेद

प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्-युत्तरं॥२०॥

अर्थ-१. प्रायश्चित्त २. विनय ३. वैयावृत्य ४. स्वाध्याय ५. व्युत्सर्ग ६. ध्यान ये आभ्यन्तर तप हैं।

आभ्यन्तर तपों के उत्तर भेद

नव-चतुर्-दश-पञ्च-द्विभेदा यथाक्रमं प्राग्-ध्यानात्॥२१॥

अर्थ-ध्यान से पहले के पाँच अभ्यंतर तप क्रम से ९, ४, १०, ५ और २ भेद वाले हैं।

प्रायश्चित्त तप के भेद

आलोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारो-पस्थापनाः ॥ २२॥

अर्थ -१. आलोचना २. प्रतिक्रमण ३. तदुभय ४. विवेक ५. व्युत्सर्ग ६. तप ७. छेद ८. परिहार ९.उपस्थापन ये ९ प्रायश्चित्त तप के भेद हैं।

विनयतप के चार भेद

ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचाराः॥२३॥

अर्थ- १. ज्ञान विनय २. दर्शन विनय ३. चारित्र विनय, ४. उपचार विनय ये चार विनय तप के भेद हैं।

वैयावृत्य तप के दश भेद

आचार्यो-पाध्याय-तपस्वि-शैक्ष्य-ग्लान-
गण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम्॥२४॥

अर्थ-आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्ति करने की अपेक्षा से वैयावृत्य तप के दश भेद हैं।

स्वाध्याय तप के पाँच भेद

वाचना-पृच्छनानु-प्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशाः॥२५॥

अर्थ-१.वाचना २.पृच्छना ३.अनुप्रेक्षा ४.आम्नाय और ५. धर्मोपदेश, ये पाँच स्वाध्याय तप के भेद हैं।

व्युत्सर्ग तप के भेद

बाह्या-भ्यन्तरोपध्योः॥२६॥

अर्थ-बाह्योपधिव्युत्सर्ग और आभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग, ये दो व्युत्सर्ग तप के भेद हैं।

ध्यान तप का लक्षण

उत्तम संहननस्-यैकाग्र-चिन्ता-निरोधो ध्यान-मान्तर्मुहूर्तात्॥ २७॥

अर्थ-उत्तम संहनन वाले का अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त एकाग्रता से चिन्ता का रोकना ध्यान है।

ध्यान के भेद

आर्त-रौद्र-धर्म्य-शुक्लानि॥२८॥

अर्थ-आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ये ध्यान के ४ भेद हैं।

धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान का फल

परे मोक्ष-हेतू॥२९॥

अर्थ-इनमें से धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं।

अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान का लक्षण

आर्त-ममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्-विप्रयोगाय स्मृति-समन्वाहार:॥ ३०॥

अर्थ-अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए बार-बार विचार करना अनिष्ट संयोगज नामक आर्तध्यान है।

इष्टवियोगज आर्तध्यान का लक्षण

विपरीतं मनोज्ञस्य॥ ३१॥

अर्थ-स्त्री पुत्र आदि इष्टजनों का वियोग होने पर उनके संयोग के लिए बार-बार चिन्ता करना इष्ट वियोगज नामक आर्तध्यान है।

वेदनाजन्य आर्तध्यान का लक्षण

वेदना-याश्च॥३२॥

अर्थ-वेदना होने पर, उसे दूर करने के लिये निरन्तर चिन्तन करना वेदनाजन्य नामक आर्तध्यान है।

निदान आर्तध्यान का लक्षण

निदानं च॥ ३३॥

अर्थ-आगामी काल सम्बन्धी विषयों की प्राप्ति में चित्त को तल्लीन करना निदान आर्तध्यान है।

गुणस्थानों की अपेक्षा आर्तध्यान के स्वामी

तदविरत-देशविरत-प्रमत्त-संयतानाम्॥ ३४॥

अर्थ-वह आर्तध्यान अविरत अर्थात् आदि के चार गुणस्थान, देशविरत अर्थात् पंचम गुणस्थान और प्रमत्तसंयत अर्थात् छठवें गुणस्थान में होता है।

रौद्रध्यान के भेद व स्वामी

हिंसानृत-स्तेय-विषय-संरक्षणेभ्यो रौद्र-मविरत-देशविरतयोः॥ ३५॥

अर्थ-हिंसा, झूठ, चोरी और विषय संरक्षण से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है और वह अविरत तथा देशविरत (आदि के पाँच) गुणस्थानों में होता है।

धर्मध्यान का स्वरूप व चार भेद

आज्ञापाय-विपाक-संस्थान-विचयाय-धर्म्यम्॥३६॥

अर्थ-आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के लिए मन को एकाग्र करना धर्म्यध्यान हैं।

आदि के दो शुक्लध्यानों के स्वामी

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः॥३७॥

अर्थ–प्रारम्भ के पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामक दो शुक्लध्यान पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवली के ही होते हैं।

पिछले दो शुक्लध्यानों के स्वामी

परे केवलिनः॥ ३८॥

अर्थ–अन्त के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दो शुक्ल ध्यान सयोगकेवली और अयोगकेवली के ही होते हैं।

शुक्लध्यान के चारों भेदों के नाम

पृथक्त्वैकत्व-वितर्क-सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति-व्युपरत-क्रिया-निवर्तीनि॥ ३९॥

अर्थ–पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यान के चार भेद हैं।

शुक्लध्यान के आलम्बन

त्र्येक-योग-काययोगा-योगानाम्॥४०॥

अर्थ–उक्त चार भेद क्रम से तीन योग, एक योग, काययोग और योगरहित जीवों के होते हैं।

आदि के दो शुक्लध्यानों की विशेषता

एकाश्रये सवितर्क-वीचारे पूर्वे॥४१॥

अर्थ–पहले के दो ध्यान एक आश्रय वाले श्रुतकेवली के आश्रय वितर्क सहित तथा वीचार सहित होते हैं।

एकत्ववितर्क शुक्लध्यान की विशेषता

अवीचारं द्वितीयम्॥ ४२॥

अर्थ–किन्तु दूसरा शुक्लध्यान वीचार से रहित है।

वितर्क का लक्षण

वितर्कः श्रुतम्॥४३॥

अर्थ–श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं।

वीचार का लक्षण

वीचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योग-संक्रांतिः॥४४॥

अर्थ–अर्थ, व्यञ्जन और योग के पलटने को वीचार कहते हैं।

पात्रों की अपेक्षा निर्जरा का क्रम

सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्त-वियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोप-शमकोप-शान्तमोह क्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण-निर्जराः॥४५॥

अर्थ–१. सम्यग्दृष्टि, २. पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावक, ३. विरत (मुनि), ४. अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाला, ५.

दर्शनमोह का क्षय करने वाला, ६. चारित्रमोह का उपशम करने वाला, ७. उपशांतमोहवाला, ८. क्षपकश्रेणी चढ़ने वाला, ९. क्षीणमोह (बारहवें गुणस्थानवाला) और १०. जिनेन्द्र भगवान्, इन सबके परिणामों की विशुद्धता की अधिकता होने से, आयुकर्म को छोड़कर अन्य कर्मों की प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

निर्ग्रन्थ साधुओं के भेद

पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः॥४६॥

अर्थ-पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ साधु हैं।

पुलाकादि मुनियों के विशेषता

संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिंग-लेश्योप-पादस्थान-विकल्पतः साध्याः॥ ४७॥

अर्थ-उक्त मुनि संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों के द्वारा भेदरूप से साध्य हैं। अर्थात् इन आठ अनुयोगों की अपेक्षा से पुलाक आदि मुनियों के विशेष भेद होते हैं।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे नवमोऽध्यायः॥

अथ दशमोऽध्यायः

मोक्ष तत्त्व का वर्णन

केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण

मोह-क्षयाज्ज्ञान-दर्शना-वरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम्॥१॥

अर्थ-मोहनीय कर्म का क्षय होने के बाद (अन्तर्मुहूर्त के लिए क्षीणकषाय नामक बारहवां गुणस्थान पाकर) एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

मोक्ष के कारण और लक्षण

बन्ध-हेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः॥ २॥

अर्थ-बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा ज्ञानावरणादि समस्त कर्म प्रकृतियों का अत्यन्त अभाव होना मोक्ष है।

मोक्ष में रहने वाले भाव

औपशमिकादि-भव्यत्वानां च॥३॥

अर्थ- औपशमिक आदि भावों का तथा पारिणामिक भावों में से भव्यत्व भाव का भी अभाव होने से मोक्ष होता है।

मोक्ष में रहने वाले भाव

अन्यत्र केवल-सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-सिद्धत्वेभ्यः॥४॥

अर्थ-परन्तु केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व इन भावों का अभाव नहीं होता है।

कर्म के क्षय के बाद होने वाला कार्य

तदनन्तर-मूर्ध्वं गच्छत्या-लोकान्तात्॥५॥

अर्थ-समस्त कर्मों का क्षय होने के बाद मुक्त जीव लोक के अन्त भाग पर्यंत ऊपर को जाता है।

मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन में चार कारण

पूर्व-प्रयोगा-दसंगत्वाद्-बन्धच्छेदात्-तथा-गति-परिणामाच्च॥६॥

अर्थ-पूर्वप्रयोग (पूर्वसंस्कार)से, सङ्गरहित होने से, कर्मबन्धन के नष्ट होने से और तथा वैसा गमन करना स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन में दृष्टान्त

आविद्ध-कुलाल-चक्रवद्-व्यपगत-लेपालांबु-वदेरण्ड-बीज-वदग्नि-शिखावच्च॥ ७॥

अर्थ-घुमाये गये चक्र के समान, लेप से मुक्त हुई तूमड़ी

के समान, एरंड के बीज के समान और अग्नि की शिखा के समान।

मुक्तजीव के लोकाग्र से आगे न जाने का कारण

धर्मास्ति-काया-भावात्॥ ८॥

अर्थ-धर्मद्रव्य का अभाव होने से मुक्त जीव लोकाग्र के आगे अर्थात् अलोकाकाश में नहीं जाते। क्योंकि जीव और पुद्गलों का गमन धर्मद्रव्य की सहायता से ही होता है और अलोकाकाश में धर्मद्रव्य का अभाव है।

मुक्तजीवों में परस्पर भेद के कारण

क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्ध-बोधित - ज्ञाना-वगाहनान्तर-संख्याल्प-बहुत्वतः साध्याः॥ ९॥

अर्थ- क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन बारह अनुयोगों से सिद्धों में भी भेद साधने योग्य हैं।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे दशमोऽध्यायः॥

अक्षर-मात्र पद-स्वर-हीनं, व्यञ्जन-संधि-विवर्जित-रेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं, को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे॥१॥

अर्थ-तत्त्वार्थ सूत्र के अध्ययन करने में मेरे द्वारा यदि अक्षर मात्रा पद स्वर व्यंजन संधि और रेफ से रहित कुछ कहा गया हो तो साधु सज्जन लोगों को मुझे क्षमा करना चाहिए क्योंकि शास्त्र सागर में त्रुटियाँ होना स्वाभाविक है।

दशाध्याये परिच्छिन्ने, तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्या-दुपवासस्य, भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥२॥

अर्थ-तत्त्वार्थ सूत्र के दस अध्यायों के पढ़ने में मुनि श्रेष्ठों के द्वारा एक उपवाास का फल कहा गया है।

तत्त्वार्थ-सूत्र-कर्तारं, गृद्ध-पिच्छोप-लक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्र-संजात-मुमास्वामी-मुनीश्वरम्॥३॥

अर्थ-तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता गृद्धपिच्छ से भूषित आचार्य उमास्वामी महाराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

पुण्यार्जक

आनंद-कल्पना, आकाश (GST इंस्पेक्टर)-साक्षी,
आदर्श (नायब तहसीलदार)-अंकिता, नैवेद्य जैन
चौधरी परिवार जबेरा जिला दमोह (म.प्र.)